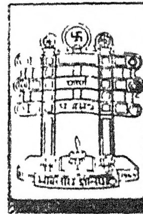
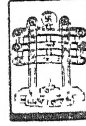
राधा-कृष्ण का प्रणय-प्रसग और भारती की लेखनी। स्वभावत· प्रस्तुत कृति का आविर्भाव साहित्य-लोक की एक विशिष्ट घटना बना। ऐसा इसलिए तो और भी कि इस पौराणिक सन्दर्भ को आधुनिक युग और आधुनिक सन्दर्भो से सम्पृक्त करके अकित किया गया है। प्रस्तुत हे आठवा सस्करण।

कनुप्रिया

धर्मवीर भारती



भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन



प्रथम सस्करण	१९५९
द्वितीय सस्करण	१९६४
तृतीय सस्करण	१९६६
चतुर्थ सस्करण	१९७२
पचम सस्करण	१९७६
षष्ठ सस्करण	१९७८
सप्तम सस्करण	१९८१
अष्टम सस्करण	१९८४

लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थाक ८६

कनुप्रिया

(कविताएँ)

धर्मवीर भारती

मूल्य : पेपर बैक सस्करण ८/५०
पुस्तकालय संस्करण १६/-

प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ

बी/४५-४७, कनॉट प्लेस,

नयी दिल्ली-११०००१

मुद्रक

अंकित प्रिंटिंग प्रेस

रोहतास नगर (वैस्ट)

शाहदरा, दिल्ली-११००३२

KANUPRIYA (*Poems*) *by* Dharmavir Bharati, Published by Bharatiya Jnanpith, B/45-47, Connaught Place, New Delhi-110001. Printed at Ankit Printing Press, Shahdara Delhi. Eighth Edition 1984. Price : Rs. 8/50 (Paperback)
: Rs. 16/- (Library Ed.)

सोनम० के लिए



ऐसे तो क्षण होते ही है जब लगता है कि इतिहास की दुर्दान्त शक्तियाँ अपनी निर्मम गति से बढ रही है, जिनमे कभी हम अपने को विवश पाते है, कभी विक्षुब्ध, कभी विद्रोही और प्रतिशोधयुक्त, कभी वल्गाएँ हाथ में लेकर गतिनायक या व्याख्याकार, तो कभी चुपचाप शाप या सलीब स्वीकार करते हुए आत्मबलिदानी उद्धारक या त्राता·········लेकिन ऐसे भी क्षण होते है जब हमे लगता है कि यह सब जो बाहर का उद्वेग है—महत्त्व उसका नही है—महत्त्व उसका है जो हमारे अन्दर साक्षात्कृत होता है—चरम तन्मयता का क्षण जो एक स्तर पर सारे बाह्य इतिहास की प्रक्रिया से ज्यादा मूल्यवान् सिद्ध हुआ है, जो क्षण हमे सीपी की तरह खोल गया है—इस तरह कि समस्त बाह्य—अतीत, वर्तमान और भविष्य—सिमटकर उस क्षण में पुजीभूत हो गया है, और हम हम नही रहे !

प्रयास तो कई बार यह हुआ है कि कोई ऐसा मूल्यस्तर खोजा जा सके जिस पर ये दोनों ही स्थितियाँ अपनी सार्थकता पा सके— पर इस खोज को कठिन पाकर दूसरे आसान समाधान खोज लिये गये है—मसलन् इन दोनों के बीच एक अमिट पार्थक्य रेखा खीच देना—और फिर इस बिन्दु से खडे होकर उस बिन्दु को, और उस बिन्दु से खडे होकर इस बिन्दु को मिथ्या भ्रम घोपित करना।··· या दूसरी पद्धति यह रही है कि पहले वह स्थिति जी लेना, उसकी तन्मयता को सर्वोपरि मानना—और बाद मे दूसरी स्थिति का सामना करना, उसके समाधान की खोज मे पहली को बिल्कुल भूल जाना। इस तरह पहली को भूलकर दूसरी और तीसरी से अब फिर पहली की ओर निरन्तर हटते-बढ़ते रहना—धीरे-धीरे इस असंगति के प्रति न केवल अभ्यस्त हो जाना वरन् इसी असगति को महानता का आधार मान लेना। (यह घोपित करना कि अमुक मनुष्य या प्रभु का व्यक्तित्व ही इसीलिए असाधारण है कि वह दोनों विरोधी स्थितियाँ बिना किसी सामंजस्य के जी सकने में समर्थ है।)

लेकिन वह क्या करे जिसने अपने सहज मन से जीवन जिया है, तन्मयता के क्षणो मे डूबकर सार्थकता पायी है, और जो अब उद्-घोषित महानताओ से अभिभूत और आतंकित नही होता वल्कि आग्रह करता है कि वह उसी सहज की कसौटी पर समस्त को कसेगा।

ऐसा ही आग्रह है कनुप्रिया का !

लेकिन उसका यह प्रश्न और आग्रह उसकी प्रारम्भिक कैशोर्य-सुलभ मन स्थितियो से ही उपजकर धीरे-धीरे विकसित होता गया है। इस कृति का काव्यबोध भी उन विकास-स्थितियो को उनकी ताजगी मे ज्यो का त्यो रखने का प्रयास करता चलता है। 'पूर्वराग' और 'मंजरी-परिणय' उस विकास का प्रथम चरण, 'सृष्टि-संकल्प' द्वितीय चरण तथा महाभारत काल से जीवन के अन्त तक शासक, कूटनीतिज्ञ, व्याख्याकार कृष्ण के इतिहास निर्माण को कनुप्रिया की दृष्टि से देखने वाले खण्ड— 'इतिहास' तथा 'समापन' इस विकास का तृतीय चरण चित्रित करते है।

लेखक के पिछले दृश्यकाव्य मे एक बिन्दु से इस समस्या पर दृष्टि-पात किया जा चुका है—गान्धारी, युयुत्सु और अश्वत्थामा के माध्यम से। कनुप्रिया उनसे सर्वथा पृथक्—बिल्कुल दूसरे बिन्दु से चलकर उसी समस्या तक पहुँचती है, उसी प्रक्रिया को दूसरे भावस्तर से देखती है और अपने अनजाने मे ही प्रश्न के ऐसे सन्दर्भ उद्घाटित करती है जो पूरक सिद्ध होते है। पर यह सब उसके अनजाने मे होता है क्योकि उसकी मूलवृत्ति संशय या जिज्ञासा नही भावानुकूल तन्मयता है।

कनुप्रिया की सारी प्रतिक्रियाएँ उसी तन्मयता की विभिन्न स्थितियाँ है !

००

अनुक्रम

पूर्वराग

पहला गीत

ओ पथ के किनारे खड़े
छायादार पावन अशोक-वृक्ष
तुम यह क्यों कहते हो कि
तुम मेरे चरणों के स्पर्श की प्रतीक्षा में
जन्मों से पुष्पहीन खडे थे
तुमको क्या मालूम कि
मै कितनी बार केवल तुम्हारे लिए—
धूल मे मिली हूँ
धरती में गहरे उतर
जडों के सहारे
तुम्हारे कठोर तने के रेशों में
कलियाँ बन, कोंपल बन, सौरभ बन, लाली बन—
चुपके से सो गयी हूँ
कि कब मधुमास आये और तुम कब मेरे
प्रस्फुटन से छा जाओ !

फिर भी तुम्हें याद नही आया, नही आया,
तब तुमको मेरे इन जावक-रचित पाँवों ने
केवल यह स्मरण करा दिया कि मै तुम्ही में हूँ
तुम्हारे ही रेशे-रेशे में सोयी हुई
और अब समय आ गया कि
मैं तुम्हारी नस-नस से पंख पसारकर उड़ूँगी
और तुम्हारी डाल-डाल से गुच्छे-गुच्छे लाल-लाल
कलियाँ बन खिलूँगी !

ओ पथ के किनारे खड़
छायादार पावन अशोक-वृक्ष
तुम यह क्यों कहते हो कि
तुम मेरी ही प्रतीक्षा में
कितने ही जन्मो से पुष्पहीन खड़े थे !

दूसरा गीत

यह जो अकस्मात्
आज मेरे जिस्म के सितार के
एक-एक तार में तुम झंकार उठे हो—
सच बतलाना मेरे स्वर्णिम सगीत
तुम कब से मुझमें छिपे सो रहे थे !
सुनो, मैं अक्सर अपने सारे शरीर को—
पोर-पोर को अवगुण्ठन में ढँककर तुम्हारे सामने गयी
मुझे तुमसे कितनी लाज आती थी,
मैने अक्सर अपनी हथेलियों में
अपना लाज से आरक्त मुँह छिपा लिया है
मुझे तुमसे कितनी लाज आती थी
मैं अक्सर तुमसे केवल तम के प्रगाढ़ परदे में मिली
जहाँ हाथ को हाथ नहीं सूझता था
मुझे तुमसे कितनी लाज आती थी,

पर हाय मुझे क्या मालूम था
कि इस वेला जब अपने को
अपने मे छिपाने के लिए मेरे पास
कोई आवरण नही रहा
तुम मेरे जिस्म के एक-एक तार से
झंकार उठोगे
सुनो ! सच बतलाना मेरे स्वर्णिम संगीत
इस क्षण की प्रतीक्षा में तुम
कब से मुझमें छिपे सो रहे थे !

तीसरा गीत

घाट से लौटते हुए
तीसरे पहर की अलसायी वेला में
मैंने अक्सर तुम्हें कदम्ब के नीचे
चुपचाप ध्यानमग्न खड़े पाया
मैंने कोई अज्ञात वनदेवता समझ
कितनी बार तुम्हे प्रणाम कर सिर झुकाया
पर तुम खड़े रहे, अडिग, निर्लिप्त, वीतराग, निश्चल !
तुमने कभी उसे स्वीकारा ही नही !
दिन पर दिन बीतते गये
और मैंने तुम्हें प्रणाम करना भी छोड दिया
पर मुझे क्या मालूम था कि वह अस्वीकृति ही
अटूट बन्धन बनकर
मेरी प्रणाम-बद्ध अंजलियो में, कलाइयों मे इस तरह
लिपट जायेगी कि कभी खुल ही नही पायेगी

और मुझे क्या मालूम था कि
तुम केवल निश्चल खड़े नहीं रहे
तुम्हें वह प्रणाम की मुद्रा और हाथों की गति
इस तरह भा गयी कि
तुम मेरे एक-एक अंग की एक-एक गति को
पूरी तरह बाँध लोगे।
इस सम्पूर्ण के लोभी तुम
भला उस प्रणाम मात्र को क्यों स्वीकारते ?

और मुझ पगली को देखो कि मैं
तुम्हें समझती थी कि तुम कितने वीतराग हो
कितने निर्लिप्त !

चौथा गीत

यह जो दोपहर के सन्नाटे में
यमुना के इस निर्जन घाट पर अपने सारे वस्त्र
किनारे रख
मै घण्टों जल में निहारती हूँ

क्या तुम समझते हो कि मैं
इस भाँति अपने को देखती हूँ ?
नही मेरे साँवरे !
यमुना के नीले जल में
मेरा यह वेतसलता-सा काँपता तन-बिम्ब,
    और उसके चारों ओर साँवली गहराई का अथाह प्रसार,
    जानते हो कैसा लगता है—

मानो यह यमुना की साँवली गहराई नही है
यह तुम हो जो सारे आवरण दूर कर
मुझे चारों ओर से कण-कण रोम-रोम
अपने श्यामल प्रगाढ़ अथाह आलिगन में पोर-पोर
                                        कसे हुए हो !

यह क्या तुम समझते हो
घण्टों—जल में—मैं अपने को निहारती हू
नही मेरे साँवरे !

पाँचवाँ गीत

यह जो मैं गृहकाज से अलसाकर अक्सर
इधर चली आती हूँ
और कदम्ब की छाँह में शिथिल, अस्तव्यस्त
अनमनी-सी पडी रहती हूँ···

यह पछतावा अब मुझे हर क्षण
सालता रहता है कि
मैं उस रास की रात तुम्हारे पास से लौट क्यों आयी ?
जो चरण तुम्हारे वेणुवादन की लय पर
तुम्हारे नील जलज तन की परिक्रमा देकर नाचते रहे
वे फिर घर की ओर उठ कैसे पाये
मै उस दिन लौटी क्यों—
कण-कण अपने को तुम्हें देकर रीत क्यो नही गयी ?
तुमने तो उस रास की रात
जिसे अंशत: भी आत्मसात् किया
उसे सम्पूर्ण बनाकर
वापस अपने-अपने घर भेज दिया

पर हाय वह सम्पूर्णता तो
इस जिस्म के एक-एक कण में
वराबर टीसती रहती है,
तुम्हारे लिए !
कैमे हो जी तुम ?

जब मैं जाना ही नहीं चाहती
तो बाँसुरी के एक गहरे अलाप से
मदोन्मत्त मुझे खीच बुलाते हो

और जब वापस नहीं आना चाहती
तब मुझे अंशतः ग्रहण कर
सम्पूर्ण बनाकर लौटा देते हो !

मंजरी-परिणय



आम्र-बौर का गीत

यह जो मैं कभी-कभी चरम साक्षात्कार के क्षणों में
बिलकुल जड़ और निस्पन्द हो जाती हूँ
इसका मर्म तुम समझते क्यों नही साँवरे !

तुम्हारी जन्म-जन्मान्तर की रहस्यमयी लीला
की एकान्त-संगिनी मै
इन क्षणों में अकस्मात्
तुमसे पृथक् नही हो जाती मेरे प्राण,
तुम यह क्यों नहीं समझ पाते कि लाज
सिर्फ़ जिस्म की नही होती
मन की भी होती है
एक मधुर भय
एक अनजाना सशय,
एक आग्रह-भरा गोपन,
एक निर्व्याख्या वेदना; उदासी,
जो मुझे बार-बार चरम सुख के क्षणों मे भी
अभिभूत कर लेती है।
भय, सशय, गोपन, उदासी
ये सभी ढीठ, चचल, सरचढ़ी सहेलियों की तरह
मुझे घेर लेती है
और मै कितना चाहकर भी तुम्हारे पास ठीक उसी समय
नही पहुँच पाती जब आम्र मजरियों के नीचे
अपनी बाँसुरी मे मेरा नाम भरकर तुम बुलाते हो !

उस दिन तुम उस बौर लदे आम को
झुकी डालियों से टिके कितनी देर मुझे वंशी से टेरते रहे
ढलते सूरज की उदास काँपती किरणें
तुम्हारे माथे के मोरपंखों
से बेबस विदा माँगने लगीं—
मै नहीं आयी

गायें कुछ क्षण तुम्हे अपनी भोली आँखों से
मुँह उठाये देखती रहीं और फिर
धीरे-धीरे नन्दगाँव की पगडण्डी पर
विना तुम्हारे अपने-आप मुड़ गयीं—
मैं नही आयी

यमुना के घाट पर
मछुओं ने अपनी नावें बाँध दी
और कन्धों पर पतवारें रख चले गये—
मैं नहीं आयी

तुमने वंशी होठों से हटा ली थी
और उदास, मौन, तुम आम्र-वृक्ष की जड़ों से टिककर बैठ
गये थे
और बैठे रहे, बैठे रहे, बैठे रहे
मै नहीं आयी, नहीं आयी, नही आयी
तुम अन्त में उठे
एक झुकी डाल पर खिला एक बौर तुमने तोड़ा
और धीरे-धीरे चल दिये
अनमने तुम्हारे पाँव पगडण्डी पर चल रहे थे

पर जानते हो तुम्हारे अनजान में ही तुम्हारी उँगलियाँ क्या
कर रही थी ?
वे उस आम्र मजरी को चूर-चूर कर
श्यामल वनघासों में बिछी उस माँग-सी उजली पगडण्डी पर
बिखेर रही थी···

यह तुमने क्या किया प्रिय !
क्या अपने अनजाने में ही
उस आम के बौर से मेरी क्वाँरी उजली पवित्र माँग
भर रहे थे साँवरे ?
पर मुझे देखो कि मै उस समय भी तो माथा नीचा कर
इस अलौकिक सुहाग से प्रदीप्त होकर
माथे पर पल्ला डालकर
झुककर तुम्हारी चरणधूलि लेकर
तुम्हें प्रणाम करने---
नही आयी, नही आयी, नही आयी !

0 0
पर मेरे प्राण
यह क्यो भूल जाते हो कि मै वही
बावली लडकी हूँ न जो कदम्ब के नीचे बैठकर
जब तुम पोई की जंगली लतरो के पके फलो को
तोडकर, मसलकर, उनकी लाली से मेरे पावो को
महावर रचने के लिए अपनी गोद मे रखते हो
तो मै लाज से धनुष की तरह दोहरी हो जाती हूँ
और अपने पाँव पूरे बल से समेटकर खीच लेती हूँ
अपनी दोनो बाँहो में अपने घुटने कस
मुँह फेरकर निश्चल बैठ जाती हूँ
पर शाम को जब घर आती हूँ तो

निभृत एकान्त में दीपक के मन्द आलोक मे
अपने उन्ही चरणो को
अपलक निहारती हूँ
बावली-सी उन्हें बार-बार प्यार करती हूँ
जल्दी-जल्दी में अधबनी उन महावर की रेखाओं को
चारों ओर देखकर धीमे-से
चूम लेती हूँ।

o o o

रात गहरा आयी है
और तुम चले गये हो
और मै कितनी देर तक बाँह से
उसी आम्र डाली को घेरे चुपचाप रोती रही हूँ
जिस पर टिककर तुम मेरी प्रतीक्षा करते हो

और मैं लौट रही हूँ,
हताश, और निष्फल
और ये आम के टूटे बौर के कण-कण
मेरे पाँवों में बुरी तरह साल रहे है।
पर तुम्हे यह कौन बतायेगा साँवरे
कि देर ही से सही
पर मै तुम्हारे पुकारने पर आ तो गयी
और माँग-सी उजली पगडण्डी पर बिखरे
ये मजरी-कण भी अगर मेरे चरणों में गडते हैं तो
इसीलिए न कि कितना लम्बा रास्ता
कितनी जल्दी-जल्दी पार कर मुझे आना पडा है
और काँटों और काँकरियों से
मेरे पाँव किस बुरी तरह घायल हो गये है।

यह कैसे बताऊँ तुम्हें
कि चरम साक्षात्कार के ये अनूठे क्षण भी
जो कभी-कभी मेरे हाथ से छूट जाते हैं
तुम्हारी मर्म-पुकार जो कभी-कभी मैं नही सुन पाती
तुम्हारी भेंट का अर्थ जो नही समझ पाती
तो मेरे साँवरे लाज मन की भी होती है

एक अज्ञात भय,
अपरिचित सशय,
आग्रह-भरा गोपन,
और सुख के क्षण
में भी घिर आनेवाली निर्व्याख्या उदासी—

फिर भी उसे चीरकर
देर में ही आऊँगी प्राण,
तो क्या तुम मुझे अपनी लम्बी
चन्दन-बाँहों में भरकर बेसुध नही
कर दोगे ?

आम्र-बौर का अर्थ

अगर मै आम के बौर का ठीक-ठीक
सकेत नही समझ पायी
तो भी इस तरह खिन्न मत हो
प्रिय मेरे !

कितनी बार जब तुमने अर्द्धोन्मीलित कमल भेजा
तो मै तुरत समझ गयी कि तुमने मुझे संझा बिरियॉ बुलाया है
कितनी बार जब तुमने अॅजुरी भर-भर बेले के फूल भेजे
तो मै समझ गयी कि तुम्हारी अॅजुरियों ने
किसे याद किया
कितनी बार जब तुमने अगस्त्य के दो
उजले कटावदार फूल भेजे
तो मै समझ गयी कि
तुम फिर मेरे उजले कटावदार पॉवो में
—तीसरे पहर—टीले के पासवाले
सहकार की घनी छॉव में
बैठकर महावर लगाना चाहते हो।

आज अगर आम के बौर का सकेत नही भी
समझ पायी तो क्या इतना बड़ा मान ठान लोगे ?

१०

मै मानती हूँ
कि तुमने अनेक बार कहा है :
"राधन् ! तुम्हारी शोख चंचल विचुम्बित पलक तो
पगडण्डियाँ मात्र है—
जो मुझे तुम तक पहुँचाकर रीत जाती है।"

तुमने कितनी बार कहा है :
"राधन् ! ये पतले मृणाल-सी तुम्हारी गोरी अनावृत बाँहें
पगडण्डियाँ मात्र है जो मुझे तुम तक पहुँचाकर
रीत जाती हैं।"

तुमने कितनी बार कहा है :
"सुनो तुम्हारे अधर, तुम्हारी पलकें, तुम्हारी बाँहे, तुम्हारे
चरण, तुम्हारे अग-प्रत्यंग, तुम्हारी सारी चम्पकवर्णी देह,
मात्र पगडण्डियाँ है जो
चरम साक्षात्कार के क्षणों में रहती नही—
रीत-रीत जाती है !"

हाँ चन्दन,
तुम्हारे शिथिल आलिंगन में
मैने कितनी बार इन सबको रीतता हुआ पाया है
मुझे ऐसा लगा है
जैसे किसी ने सहसा इस जिस्म के बोझ से
मुझे मुक्त कर दिया है
और इस समय मै शरीर नही हूँ…
मैं मात्र एक सुगन्ध हूँ—
आधी रात महकनेवाले इन रजनीगन्धा के फूलो

को प्रगाढ़, मधुर गन्ध—
आकारहीन, वर्णहीन, रूपहीन···

० ०
मुझे नित नये शिल्प में ढालनेवाले !
मेरे उलझे रूखे चन्दनवासित केशो में
पतली उजली चुनौती देती हुई माँग
क्या वह आख़िरी पगडण्डी थी जिसे तुम रिता देना चाहते थे
इस तरह
उसे आम्र मजरी से भर-भरकर;

मै क्यो भूल गयी थी कि
मेरे लीलाबन्धु, मेरे सहज मित्र की तो पद्धति ही यह है
कि वह जिसे भी रिक्त करना चाहता है
उसे सम्पूर्णता से भर देता है।
यह मेरी माँग क्या मेरे-तुम्हारे बीच की
अन्तिम पार्थक्य रेखा थी,
क्या इसीलिए तुमने उसे आम्र मंजरियो से
भर-भर दिया कि वह
भरकर भी ताजी, क्वाँरी और रीती छूट जाय !
तुम्हारे इस अत्यन्त रहस्यमय संकेत को
ठीक-ठीक न समझ मै उसका लौकिक अर्थ ले बैठी
तो मैं क्या करूँ,
तुम्हें तो मालूम है
कि मै वही बावली लड़की हूँ न
जो पानी भरने जाती है
तो भरे हुए घड़े मे
अपनी चंचल आँखों की छाया देखकर
उन्हें कुलेल करती चटुल मछलियाँ समझकर

बार-बार सारा पानी ढलका देती है !

सुनो मेरे मित्र,
यह जो मुझमें, इसे, उसे, तुम्हें, अपने को—
कभी-कभी न समझ पाने की नादानी है न
इसे भी रोको मत
होने दो :
वह भी एक दिन हो-होकर
रीत जायेगी

और मान लो न भी रीते
और मैं ऐसी ही बनी रहूँ तो
तो क्या ?

मेरे हर बावलेपन पर
कभी खिन्न होकर, कभी अनबोला ठानकर, कभी हँसकर
तुम जो प्यार से अपनी बाँहों में कसकर
बेसुध कर देते हो
उस सुख को मैं छोड़ूँ क्यों
करूँगी !
बार-बार नादानी करूँगी
तुम्हारी मुँहलगी, जिद्दी, नादान मित्र भी तो हूँ न !

0 0 0

आज इस निभृत एकान्त में
तुमसे दूर पड़ी हूँ मैं :
और इस प्रगाढ़ अन्धकार में

तुम्हारे चन्दन कसाव के बिना मेरी देहलता के
बड़े-बड़े गुलाब धीरे-धीरे टीस रहे है
और दर्द उस लिपि के अर्थ खोल रहा है
जो तुमने आम्र मंजरियों के अक्षरों में
मेरी माँग पर लिख दी थी

आम के बौर की महक तुर्श होती है—
तुमने अक्सर मुझमे डूब-डूबकर कहा है
कि वह मेरी तुर्शी है
जिसे तुम मेरे व्यक्तित्व मे
विशेष रूप से प्यार करते हो !

आम का वह बौर
मौसम का पहला बौर था
अछूता, ताज़ा, सर्वप्रथम !
मैंने कितनी बार तुममे डूब-डूबकर कहा है
कि मेरे प्राण ! मुझे कितना गुमान है
कि मैंने तुम्हे जो कुछ दिया है
वह सब अछूता था, ताज़ा था
सर्वप्रथम प्रस्फुटन था

तो क्या तुम्हारे पास की डार पर खिली
तुम्हारे कन्धो पर झुकी
वह आम की ताजी, क्वाँरी, तुर्श मंजरी मै ही थी
और तुमने मुझसे ही मेरी माँग भरी थी !

यह क्यों मेरे प्रिय !
क्या इसलिए कि तुमने बार-बार यह कहा है

कि तुम अपने लिए नहीं
मेरे लिए मुझे प्यार करते हो

और क्या तुम इसी का प्रमाण दे रहे थे
जब तुम मेरे ही निजत्व को, मेरे आन्तरिक अर्थ को
मेरी माँग में भर रहे थे !

और जब तुमने कहा कि "माथे पर पल्ला डालो !"
तो क्या तुम चिता रहे थे
कि अपने इसी निजत्व को, अपने आन्तरिक अर्थ को
मैं सदा मर्यादित रक्खूँ, रसमय और
पवित्र रक्खूँ
नववधू की भाँति !

हाय मैं सच कहती हूँ
मैं इसे समझी नहीं; नहीं समझी, बिल्कुल नहीं समझी
यह सारे संसार से पृथक् पद्धति का
जो तुम्हारा प्यार है न
इसकी भाषा समझ पाना क्या इतना सरल है !
तिसपर मैं बावरी
जो तुम्हारे पीछे साधारण भाषा भी
इस हद तक भूल गयी हूँ

कि श्याम ले लो ! श्याम ले लो !
पुकारती हुई हाट-बाट में
नगर-डगर में
अपनी हँसी कराती घूमती हूँ !

फिर मैं
अगर अपनी माँग पर
आम के बौर की लिपि में लिखी भाषा
का ठीक-ठीक अर्थ नही समझ पायी
तो इसमें मेरा क्या दोष मेरे लीला-बन्धु !

आज इस निभृत एकान्त में
तुमसे दूर पड़ी हूँ
और तुम क्या जानो कैसे मेरे सारे जिस्म मे
आम के बौर टीस रहे हैं
और उनकी अजीब-सी तुर्श महक
तुम्हारा अजीब-सा प्यार है
जो सम्पूर्णतः बाँधकर भी
सम्पूर्णतः मुक्त छोड़ देता है !

छोड़ क्यों देता है प्रिय ?
क्या हर बार इस दर्द के नये अर्थ
समझने के लिए !

तुम मेरे कौन हो

तुम मेरे हो कौन कनु
मैं तो आज तक नही जान पायी

वार-बार मुझसे मेरे मन ने
आग्रह से, विस्मय से, तन्मयता से पूछा है :
'यह कनु तेरा कौन है ? बूझ तो !'

वार-बार मुझसे मेरी सखियों ने
व्यंग्य से, कटाक्ष से, कुटिल सकेत से पूछा है :
'कनु तेरा कौन है री, बोलती क्यों नहीं ?'

वार-बार मुझसे मेरे गुरुजनों ने
कठोरता से, अप्रसन्नता से, रोष से पूछा है :
'यह कान्हा आख़िर तेरा है कौन ?'

मैं तो आज तक कुछ नही बता पायी
तुम मेरे सचमुच कौन हो कनु !
अक्सर जब तुमने
माला गूँथने के लिए
कँटीले झाड़ो में चढ-चढ़कर मेरे लिए
श्वेत रतनारे करौदे तोड़कर
मेरे आँचल में डाल दिये है

तो मैंने अत्यन्त सहज प्रीति से
गरदन झटकाकर
वेणी झुलाते हुए कहा है
'कनु ही मेरा एकमात्र अन्तरंग सखा है !'

अक्सर जब तुमने
दावाग्नि में, सुलगती डालियों,
टूटते वृक्षो, हहराती हुई लपटो और
घुटते हुए धुएँ के बीच
निरुपाय, असहाय, बावली-सी भटकती हुई
मुझे
साहसपूर्वक अपने दोनों हाथो में
फूल की थाली-सी सहेजकर उठा लिया
और लपटे चीरकर बाहर ले आये
तो मैने आदर, आभार और प्रगाढ़ स्नेह से
भरे-भरे स्वर में कहा है :
'कान्ह मेरा रक्षक है, मेरा बन्धु है,
सहोदर है ।'

अक्सर जब तुमने वंशी बजाकर मुझे बुलाया है
और मै मोहित मृगी-सी भागती चली आयी हूँ
और तुमने मुझे अपनी बाँहो में कस लिया है
तो मैने डूबकर कहा है :
'कनु मेरा लक्ष्य है, मेरा आराध्य, मेरा गन्तव्य !'
पर जब तुमने दुष्टता से
अक्सर सखी के सामने मुझे बुरी तरह छेडा है
तब मैने खीझकर
आँखों में आँसू भरकर
शपथें खा-खाकर

सखी से कहा है :
'कान्हा मेरा कोई नही है, कोई नही है
मै क़सम खाकर कहती हूँ
मेरा कोई नही है।'

पर दूसरे ही क्षण
जब घन-घोर बादल उमड आये है
और बिजली तडपने लगी है
और घनी वर्षा होने लगी है
और सारे वनपथ धुँधलाकर छिप गये है
तो मैने अपने आँचल मे तुम्हे दुबका लिया है
तुम्हे सहारा दे-देकर
अपनी बाँहो में घेरकर गाँव की सीमा तक तुम्हे ले आयी हूँ
और सच-सच बताऊँ तुझे कनु साँवरे !
कि उस समय मै बिलकुल भूल गयी हूँ
कि मै कितनी छोटी हूँ
और तुम वही कान्हा हो
जो सारे वृन्दावन को
जलप्रलय से बचाने की सामर्थ्य रखते हो,
और मुझे केवल यही लगा है
कि तुम छोटे-से शिशु हो
असहाय, वर्षा में भीग-भीगकर
मेरे आँचल मे दुबके हुए,
और जब मैने सखियो को बताया कि
गाँव की सीमा पर
छितवन की छाँह मे खड़े होकर
ममता से मैने अपने वक्ष मे
उस छौने का ठण्डा माथा दुबकाकर
अपने आँचल मे उसके घने घुंघराले बाल पोंछ दिये
तो मेरे उस सहज उद्गार पर

सखियाँ क्यों कुटिलता से मुसकाने लगीं
यह मैं आज तक नही समझ पायी !

लेकिन जब तुम्ही ने बन्धु
तेज से प्रदीप्त होकर इन्द्र को ललकारा है,
कालिय की खोज में विषैली यमुना को मथ डाला है
तो मुझे अकस्मात् लगा है
कि मेरे अंग-अंग से ज्योति फूटी पड़ रही है
तुम्हारी शक्ति तो मैं ही हूँ
तुम्हारा सम्बल,
तुम्हारी योगमाया,
इस निखिल पारावार में ही परिव्याप्त हूँ
विराट्,
सीमाहीन,
अदम्य,
दुर्दान्त;

किन्तु दूसरे हो क्षण
जब तुमने वेतसलता-कुज में
गहराती हुई गोधूलि वेला में
आम के एक बौर को चूर-चूर कर धीमे-से
अपनी चुटकी में भरकर
मेरे सीमन्त पर बिखेर दिया
तो मैं हतप्रभ हो गयी
मुझे लगा कि इस निखिल पारावार में
शक्ति-सी, ज्योति-सी, गति-सी
फैली हुई मैं
अकस्मात् सिमट आयी हूँ
सीमा में बँध गयी हूँ

ऐसा क्यो चाहा तुमने कान्ह ?

पर जब मुझे चेत हुआ
तो मैने पाया कि हाय सीमा कैसी
मै तो वह हूँ जिसे दिग्वधू कहते हैं, कालवधू—
समय और दिशाओं का सीमाहीन पगडण्डियों पर
अनन्त काल से
अनन्त दिशाओं में
तुम्हारे साथ-साथ चलती चली आ रही हूँ, चलती
चली जाऊँगी···

इस यात्रा का आदि न तो तुम्हें स्मरण है न मुझे
और अन्त तो इस यात्रा का है ही नही मेरे
सहयात्री !

पर तुम इतने निठुर हो
और इतने आतुर कि
तुमने चाहा है कि मैं इसी जन्म में
इसी थोड़ी-सी अवधि में जन्म-जन्मान्तर की
समस्त यात्राएँ फिर से दोहरा लूँ
और इसीलिए सम्बन्धों की इस घुमावदार पगडण्डी पर
क्षण-क्षण पर तुम्हारे साथ
मुझे इतने आकस्मिक मोड़ लेने पड़े है
कि मै बिलकुल भूल ही गयी हूँ कि
मैं अब कहाँ हूँ
और तुम मेरे कौन हो !

और इस निराधार भूमि पर
चारो ओर से पूछे जाते हुए प्रश्नों की बौछार से

घबराकर मैंने बार-बार
तुम्हें शब्दो के फूलपाश में जकड़ना चाहा है :
सखा—बन्धु—आराध्य
शिशु—दिव्य—सहचर
और अपने को नयी व्याख्याएँ देनी चाही हैं :
सखी—साधिका—बान्धवी
माँ—वधू—सहचरी—
और मै बार-बार नये-नये रूपों में
उमड़-उमड़कर
तुम्हारे तट तक आयी
और तुमने हर बार अथाह समुद्र की भाँति
मुझे धारण कर लिया—
विलीन कर लिया—
फिर भी अकूल बने रहे

मेरे साँवले समुद्र
तुम आख़िर हो मेरे कौन
मैं इसे कभी माप क्यों नही पाती ?

सृष्टि-संकल्प



सृजन-संगिनी

सुनो मेरे प्यार—
यह काल की अनन्त पगडण्डी पर
अपनी अनथक यात्रा तय करते हुए सूरज और चन्दा,
बहते हुए अन्धड़
गरजते हुए महासागर
झकोरो में नाचती हुई पत्तियाँ
धूप में खिले हुए फूल, और
चाँदनी मे सरकती हुई नदियाँ
इनका अन्तिम अर्थ आख़िर है क्या ?
केवल तुम्हारी इच्छा ?
और वह क्या केवल तुम्हारा सकल्प है
जो धरती मे सोंधापन बनकर व्याप्त है
जो जडों मे रस बनकर खिचता है
कोंपलों मे फूटता है,
पत्तो मे हरियाता है,
फूलो में खिलता है,
फलों मे गदरा आता है—

यदि इस सारे सृजन, विनाश, प्रवाह
और अविराम जीवन-प्रक्रिया का
अर्थ केवल तुम्हारी इच्छा है
तुम्हारा सकल्प
तो जरा यह तो बताओ मेरे इच्छामय,
कि तुम्हारी इस इच्छा का,

इस संकल्प का—
अर्थ कौन है ?

कौन है वह
जिसकी खोज में तुमने
काल की अनन्त पगडण्डी पर
सूरज और चाँद को भेज रक्खा है
....
कौन है जिसे तुमने
झंझा के उदास स्वरों में पुकारा है
....

कौन है जिसके लिए तुमने
महासागर की उत्ताल भुजाएँ फैला दी हैं
कौन है जिसकी आत्मा को तुमने
फूल की तरह खोल दिया है
और कौन है जिसे
नदियों-जैसे तरल घुमाव दे-देकर
तुमने तरंग-मालाओं की तरह
अपने कण्ठ में, वक्ष पर, कलाइयों में
लपेट लिया है—

वह मैं हूँ मेरे प्रियतम !
वह मैं हूँ
वह मैं हूँ

० ०

और यह समस्त सृष्टि रह नहीं जाती
लीन हो जाती है
जब मैं प्रगाढ़ वासना, उद्दाम क्रीड़ा
और गहरे प्यार के बाद
थककर तुम्हारी चन्दन-बाँहों में
अचेत बेसुध हो जाती हूँ

यह निखिल सृष्टि लय हो जाती है

और मैं प्रसुप्त, सज्ञाशून्य,
और चारों ओर गहरा अँधेरा और सूनापन—
और मजबूर होकर
तुम फिर, फिर उसी गहरे प्यार
को दोहराने के लिए
मुझे आधीरात जगाते हो
आहिस्ते से, ममता से—
और मैं फिर जागती हूं
सकल्प की तरह
इच्छा की तरह

और ला
वह आधीरात का प्रलयशून्य सन्नाटा
फिर
कापते हुए गुलाबी जिस्मों
गुनगुने स्पर्शो
कसती हुई बाहों
अस्फुट सीत्कारों
गहरी सौरभ-भरी उसासों

और अन्त में एक सार्थक शिथिल मौन से
आबाद हो जाता है
रचना की तरह
सृष्टि की तरह—

और मैं फिर थककर सो जाती हूँ
अचेत—सज्ञाहीन—
और फिर वही चारो ओर फैला
गहरा अँधेरा और अथाह सूनापन
और तुम फिर मुझे जगाते हो !

और यह प्रवाह में बहती हुई
तुम्हारी असख्य सृष्टियो का क्रम
महज हमारे गहरे प्यार
प्रगाढ़ विलास
और अतृप्त क्रीडा की अनन्त पुनरावृत्तियाँ है—
ओ मेरे स्रष्टा
तुम्हारे सम्पूर्ण अस्तित्व का अर्थ है
मात्र तुम्हारी सृष्टि

तुम्हारी सम्पूर्ण सृष्टि का अर्थ है
मात्र तुम्हारी इच्छा

और तुम्हारी सम्पूर्ण इच्छा का अर्थ हूँ
केवल मै !
केवल मैं !!
केवल मै !!!

आदिम भय

अगर यह निखिल सृष्टि
मेरा ही लीलातन है
तुम्हारे आस्वादन के लिए—

अगर ये उत्तुंग हिमशिखर
मेरे ही—रुपहली ढलानवाले
गोरे कन्धे हैं—जिनपर तुम्हारा
गगन-सा चौड़ा और साँवला और
तेजस्वी माथा टिकता है
अगर यह चाँदनी में
हिलोरें लेता हुआ महासागर
मेरे ही निरावृत जिस्म का
उतार-चढ़ाव है

अगर ये उमड़ी हुई मेघ-घटाएं
मेरी ही बलखाती हुई वे अलकें हैं
जिन्हें तुम प्यार से बिखेरकर
अक्सर मेरे पूर्ण-विकसित
चन्दन-फूलों को
ढँक देते हो

अगर सूर्यास्त वेला में
पश्चिम की ओर ढलते हुए ये

अजस्र-प्रवाही झरने
मेरी ही स्वर्ण-वर्णी जंघाएँ है

और अगर यह रात मेरी प्रगाढ़ता है
और दिन मेरी हँसी
और फूल मेरे स्पर्श
और हरियाली मेरा आलिगन

तो यह तो बताओ मेरे लीलाबन्धु
कि कभी-कभी 'मुझे' भय क्यों लगता है ?

० ०

अक्सर आकाशगगा के
सूनसान किनारो पर खडे होकर
जब मैंने अथाह शून्य मे
अनन्त प्रदीप्त सूर्यों को
कोहरे की गुफाओ मे पख टूटे
जुगनुओं की तरह रेगते देखा है
तो मैं भयभीत होकर
लौट आयी हूँ···

क्यो मेरे लीलाबन्धु
क्या वह आकाशगंगा मेरी माँग नही है ?
फिर उसके अज्ञात रहस्य
मुझे डराते क्यों है ?

और अक्सर जब मैने
चन्द्रलोक के विराट्, अपरिचित, झुलसे

पहाड़ों की गहरी, दुलघ्य घाटियो मे
अज्ञात दिशाओ से उडकर आनेवाले
धूम्रपुँजो को टकराते और
अग्निवर्णी करकापात
वज्र की चट्टानो को
घायल फूल की तरह बिखरते देखा है
तो मुझे भय क्यो लगा है
और मै लौट क्यो आई हूँ मेरे बन्धु !
क्या चन्द्रमा मेरे ही माथे का सौभाग्य-
बिन्दु नही है ?

और अगर ये सारे रहस्य मेरे है
और तुम्हारा सकल्प मै हूँ
और तुम्हारी इच्छा मे हूँ
और इस तमाम सृष्टि मे मेरे अतिरिक्त
यदि कोई है तो केवल तुम, केवल तुम,
केवल तुम.
तो मैं डरती किससे हूं मेरे प्रिय !

और अगर यह चन्द्रमा मेरी उंगलियों के
पोरों की छाप है
और मेरे इशारे पर घटता और बढ़ता है
और अगर यह आकाशगंगा मेरे ही
केश-विन्यास की शोभा है
और मेरे एक इंगित पर इसके अनन्त
ब्रह्माण्ड अपनी दिशा बदल
सकते है --
तो मुझे डर किससे लगता है
मेरे बन्धु !

० ० ०

कहाँ से आता है यह भय
जो मेरे इन हिमशिखरों पर
महासागरों पर
चन्दनवन पर
स्वर्णवर्णी झरनों पर
मेरे उत्फुल्ल लीलातन पर
कोहरे की तरह
फन फैलाकर
गुजलक बाँधकर बैठ गया है !

उद्दाम क्रीडा की वेला में
भय का यह जाल किसने फेंका है ?
देखो न
इसमें उलझकर मैं कैसे
शीतल चट्टानों पर निर्वसना जलपरी की तरह
छटपटा रही हूँ
और मेरे भीगे केशों से
सिवार लिपटा है
और मेरी हथेलियों में
समुद्री पुखराज और पन्ने
छिटक गये हैं
और मैं भयभीत हूँ !

सुनो मेरे बन्धु
अगर यह निखिल सृष्टि
मेरा लीलातन है
तुम्हारे आस्वादन के लिए

तो यह जो भयभीत है—वह छायातन
किसका है ?
किस लिए है—मेरे मित्र ?

केलिसखी

आज की रात
हर दिशा में अभिसार के संकेत क्यों हैं ?
हवा के हर झोंके का स्पर्श
सारे तन को झनझना क्यों जाता है ?
और यह क्यों लगता है
कि यदि और कोई नही तो
यह दिगन्त-व्यापी अँधेरा ही
मेरे शिथिल अधखुले गुलाब-तन को
पी जाने के लिए तत्पर है
और ऐसा क्यो भान होने लगा है
कि ये मेरे पाँव, माथा, पलकें, होंठ
मेरे अग-अंग—जैसे मेरे नही है—
मेरे वश मे नही है—बेबस
एक-एक घूँट की तरह
अँधियारे में उतरते जा रहे है
खोते जा रहे है
मिटते जा रहे है
और भय,
आदिम भय, तर्कहीन, कारणहीन भय जो
मुझे तुमसे दूर ले गया था, बहुत दूर—
क्या इसीलिए कि मुझे
दुगने आवेग से तुम्हारे पास लौटा लावे
और क्या यह भय की ही काँपती उँगलियाँ है
जो मेरे एक-एक बन्धन को शिथिल
करती जा रही है

और मै कुछ कह नही पाती !

मेरे अधखुले होठ काँपने लगे है
और कण्ठ सूख रहा है
और पलकें आधी मुँद गयी है
और सारे जिस्म मे जैसे प्राण नही है

मैने कसकर तुम्हे जकड लिया है
और जकडती जा रही हूँ
और निकट, और निकट
कि तुम्हारी साँसे मुझमें प्रविष्ट हो जायें
तुम्हारे प्राण मुझमें प्रतिष्ठित हो जायें
तुम्हारा रक्त मेरी मृतप्राय शिराओं मे प्रवाहित होकर
फिर से जीवन संचारित कर सके

और यह मेरा कसाव निर्मम है
और अन्धा, और उन्माद-भरा; और मेरी बाहे
नागपाश की गुंजलक की भांति
कसती जा रही है
और तुम्हारे कन्धो पर, बाहो पर, होठो पर
नागपाश की गहरी दन्त-पंक्तियो के नीले-नीले चिह्न
उभर आये है

और तुम व्याकुल हो उठती हो
क्षण में [illegible]
अथाह समुद्र की उत्ताल, विक्षुब्ध
हहराती लहरो के निर्मम थपेडों से
छोटे-से प्रवाल-द्वीप की तरह
बेचैन

....
....
....
....

o o
उठो मेरे प्राण
और काँपते हाथों से यह वातायन बन्द कर दो

यह बाहर फैला-फैला समुद्र मेरा है
पर आज मैं उधर नही देखना चाहती
यह प्रगाढ़ अँधेरे के कण्ठ में झूमती
ग्रहों-उपग्रहों और नक्षत्रो की
ज्योतिर्माला मैं ही हूँ
और असंख्य ब्रह्माण्डों का
दिशाओं का, समय का
अनन्त प्रवाह मैं ही हूँ
पर आज मैं अपने को भूल जाना चाहती हू
उठो
और वातायन बन्द कर दो
कि आज अँधेरे में भी दृष्टियाँ जाग उठी हैं
और हवा का आघात भी मांसल हो उठा है
और मै अपने से ही भयभीत हूँ

○ ○ ○

....

....

लो मेरे असमंजस !
अब मै उन्मुक्त हूँ
और मेरे नयन अब नयन नही है
प्रतीक्षा के क्षण है
और मेरी बाँहे, बाँहे नही है
पगडण्डियाँ है
और मेरा यह सारा
हलका गुलाबी, गोरा, रुपहली धूपछाँव-
वाली सीपी-जैसा जिस्म
अब जिस्म नही है----
सिर्फ एक पुकार है

उठो मेरे उत्तर !
और पट बन्द कर दो
और कह् दो इस समुद्र से
कि उसकी उत्ताल लहरे द्वार से टकराकर लौट जाय
और कह् दो दिशाओ से
कि वे हमारे कसाव मे आज
घुल जायं

और कह दो समय के अचूक धनुर्धर से
कि अपने शायक उतारकर
तरकस में रख ले
और तोड़ दे अपना धनुष
और अपने पंख समेटकर द्वार पर चुपचाप
प्रतीक्षा करे
जब तक मैं

अपनी प्रगाढ़ केलिकथा का अस्थायी विराम-चिह्न
अपने अधरों से
तुम्हारे वक्ष पर लिखकर, थककर
शैथिल्य की बाँहों में
डूब न जाऊँ……

आओ मेरे अधैर्य !
दिशाएँ घुल गयी है
जगत् लीन हो चुका है
समय मेरे अलक-पाश में बँध चुका है।
और इस निखिल सृष्टि के
अपार विस्तार में
तुम्हारे साथ मै हूँ—केवल मैं—

तुम्हारी अन्तरग केलिसखी !

इतिहास

□

विप्रलब्धा

बुझी हुई राख, टूटे हुए गीत, डूबे हुए चाँद,
रीते हुए पात्र, बीते हुए क्षण-सा—
—मेरा यह जिस्म

कल तक जो जादू था, सूरज था, वेग था
तुम्हारे आश्लेष मे

आज वह जूड़े से गिरे हुए बेले-सा
टूटा है, म्लान है
दुगना सूनसान है
बीते हुए उत्सव-सा, उठे हुए मेले-सा—
मेरा यह जिस्म- -
टूटे खण्डहरों के उजाड़ अन्तःपुर मे
छूटा हुआ एक साबित मणिजटित दर्पण-सा—
आधी रात दंश-भरा बाहुहीन
प्यासा सर्पीला कसाव एक
जिसे जकड़ लेता है
अपनी गुंजलक में :

अब सिर्फ़ मैं हूँ, यह तन है, और याद है

खाली दर्पण मे धुँधला-सा एक प्रतिबिम्ब
मुड़-मुड़ लहराता हुआ
निज को दोहराता हुआ !

....

....

कौन था वह
जिसने तुम्हारी बाँहों के आवर्त में
गरिमा से तनकर समय को ललकारा था !

कौन था वह
जिसकी अलकों में जगत् की समस्त गति
बँधकर पराजित थी !

कौन था वह
जिसके चरम साक्षात्कार का एक गहरा क्षण
सारे इतिहास से बड़ा था, सशक्त था !

कौन था कनु, वह,
तुम्हारी बाँहों में
जो सूरज था, जादू था, दिव्य था, मन्त्र था
अब सिर्फ मैं हूँ, यह तन है, और याद है !

मन्त्र-पढ़े बाण-से छूट गए तुम तो कनु,
शेष रही मैं केवल,
काँपती प्रत्यंचा-सी

अब भी जो बीत गया,
उसी में बसी हुई
अब भी उन बाँहों के छलावे में
कसी हुई

जिन रूखी अलकों में
मैने समय की गति बाँधी थी—
हाय उन्ही काले नागपाशों मे
दिन-प्रतिदिन, क्षण-प्रतिक्षण बार-बार
डँसी हुई

अब सिर्फ मै हूँ, यह तन है—
—और संशय है

बुझी हुई राख मे छिपी चिनगारी-सा
रीते हुए पात्र की आखिरी बूँद-सा
पाकर खो देने की व्यथा-भरी गूँज सा···

सेतु : मैं

नीचे की घाटी से
ऊपर के शिखरो पर
जिसको जाना था वह चला गया—
हाय मुझी पर पग रख
मेरी बॉहो से
इतिहास तुम्हें ले गया !

सुनो कनु, सुनो
क्या मैं सिर्फ़ एक सेतु थी तुम्हारे लिए
लीलाभूमि और युद्धक्षेत्र के
अलंघ्य अन्तराल में !

अब इन सूने शिखरों, मृत्यु-घाटियो में बने
सोने के पतले गुँथे तारों वाला पुल-सा
निर्जन
निरर्थक
काँपता-सा, यहॉ छूट गया—मेरा यह सेतु-जिस्म

—जिसको जाना था वह चला गया

उसी आम के नीचे

उस तन्मयता में
तुम्हारे वक्ष में मुँह छिपाकर
लजाते हुए
मैंने जो-जो कहा था
पता नहीं उसमें कुछ अर्थ था भी या नहीं :

आम्र मंजरियों से भरी हुई माँग के दर्प में
मैंने समस्त जगत् को
अपनी बेसुधी के
एक क्षण में लीन करने का
जो दावा किया था — पता नहीं
वह सच था भी या नहीं :
जो कुछ अब भी इस मन में कसकता है
इस तन में काँप-काँप जाता है
वह स्वप्न था या यथार्थ
– अब मुझे याद नहीं
पर इतना जरूर जानती हूँ
कि इस आम की डाली के नीचे
जहाँ खड़े होकर तुमने मुझे बुलाया था
अब भी मुझे आकर बड़ी शान्ति मिलती है

○ ○

न,
मैं कुछ सोचना नहीं

कुछ याद भी नही करती
सिर्फ़ मेरी अनमनी, भटकती उँगलियाँ
मेरे अनजाने, धूल में तुम्हारा
वह नाम लिख जाती है
जो मैंने प्यार के गहनतम क्षणो मे
खुद रखा था
और जिसे हम दोनो के अलावा
कोई जानता ही नही

और ज्यो ही सचेत होकर
अपनी उँगलियो की
इस धृष्टता को मिटा देती हूँ
चौककर उसे मिटा देती हूँ
(उसे मिटाते दु:ख क्यों नही होता कनु !
क्या अब मै केवल दो यन्त्रो का पुज-मात्र हूँ ?
—दो परस्पर विपरीत यन्त्र—
उनमें से एक बिना अनुमति नाम लिखता है
दूसरा उसे बिना हिचक मिटा देता है !)

0 0 0

तीसरे पहर
चुपचाप यहाँ छाया में बैठती हूँ
और हवा ऊपर ताजी नरम टहनियो से,
और नीचे कपोलो पर झूलती मेरी रूखी अलकों से
खेल करती है
और मै आँख मूँदकर बैठ जाती हूँ
और कल्पना करना चाहती हूँ कि
उस दिन बरसते में जिस छौने को
अपने आँचल में छिपाकर लायी थी

वह आज कितना, कितना, कितना महान् हो गया है
लेकिन मै कुछ नही सोच पाती
सिर्फ—
जहाँ तुमने मुझे अमित प्यार दिया था
वही बैठकर कंकड़, पत्ते, तिनके, टुकडे चुनती रहती हूँ
तुम्हारे महान् बनने मे
क्या मेरा कुछ टूटकर बिखर गया है कनु !

वह सब अब भी
ज्यो का त्यो है
दिन ढले आम के नये बौरो का
चारो ओर अपना मायाजाल फेकना
जाल मे उलझा कर मेरा बेबस चले आना

नया है
केवल मेरा
सूनी माँग आना
सूनी माँग, शिथिल चरण, असमर्पिता
ज्यो का त्यो लौट जाना…

उस तन्मयता मे — आम्र मंजरी से सजी माँग को
तुम्हारे वक्ष मे छिपाकर लजाते हुए
बेसुध होते-होते
जो मैने सुना था
क्या उसमे भी कुछ अर्थ नही था ?

अमंगल छाया

घाट से आते हुए
कदम्ब के नीचे खड़े कनु को
ध्यानमग्न देवता समझ, प्रणाम करने
जिस राह से तू लौटती थी बावरी
आज उस राह से न लौट

उजड़े हुए कुंज
रौंदी हुए लताएँ
आकाश पर छाई हुई धूल
क्या तुझे यह नही बता रही
कि आज उस राह से
कृष्ण की अठारह अक्षौहिणी सेनाएँ
युद्ध में भाग लेने जा रही है !

आज उस पथ से अलग हटकर खड़ी हो
बावरी !
लताकुंज की ओट
छिपा ले अपने आहत प्यार को
आज इस गाँव से
द्वारिका की युद्धोन्मत्त सेनाएँ गुजर रही है

मान लिया कि कनु तेरा
सर्वाधिक अपना है
मान लिया कि तू

उसकी रोम-रोम परिचित है
मान लिया कि ये अगणित सैनिक
एक-एक उसके हैं :
पर जान रख कि ये तुझे बिलकुल नहीं जानते
पथ से हट जा बावरी !

यह आम्रवृक्ष की डाल
उनकी विशेष प्रिय थी
तेरे न आने पर
सारी शाम इसपर टिक
उन्होंने वंशी में बार-बार
तेरा नाम भरकर तुझे टेरा था—

आज यह आम की डाल
सदा-सदा के लिए काट दी जायेगी
क्योंकि कृष्ण के सेनापतियों के
वायुवेगगामी रथों की
गगनचुम्बी ध्वजाओं में
यह नीची डाल अटकती है
और यह पथ के किनारे खड़ा
छायादार पावन अशोक-वृक्ष
आज खण्ड-खण्ड हो जायेगा तो क्या—
यदि ग्रामवासी, सेनाओं के स्वागत में
तोरण नहीं सजाते
तो क्या सारा ग्राम नहीं उजाड़ दिया जायेगा ?

दुःख क्यों करती है पगली
क्या हुआ जो
कनु के ये वर्तमान अपने,

तेरे उन तन्मय क्षणो को कथा से
अनभिज्ञ है

उदास क्यों होती है नासमझ
कि इस भीड़-भाड़ मे
तू और तेरा प्यार नितान्त अपरिचित
छूट गये है,

गर्व कर बावरी !
कौन है जिसके महान् प्रिय की
अठारह अक्षौहिणी सेनाएँ हो ?

एक प्रश्न

अच्छा, मेरे महान् कनु,
मान लो कि क्षण-भर को
मैं यह स्वीकार लूँ
कि मेरे ये सारे तन्मयता के गहरे क्षण
सिर्फ भावावेश थे,
सुकोमल कल्पनाएँ थीं
रँगे हुए, अर्थहीन, आकर्षक शब्द थे

मान लो कि
क्षण-भर को
मैं यह स्वीकार लूँ
कि
पाप-पुण्य, धर्माधर्म, न्याय-दण्ड
क्षमा-शीलवाला यह तुम्हारा युद्ध सत्य है

तो भी मैं क्या करूँ कनु,
मैं तो वही हूँ
तुम्हारी बावरी मित्र
जिसे सदा उतना ही ज्ञान मिला
जितना तुमने उसे दिया

जितना तुमने मुझे दिया अभी तक
उसे पूरा समेट कर भी

आस-पास जाने कितना है तुम्हारे इतिहास का
जिसका कुछ अर्थ मुझे समझ नहीं आता है !

अपनी जमुना में
जहाँ घण्टों अपने को निहारा करती थी मैं
वहाँ अब शस्त्रों से लदी हुई
अगणित नौकाओं की पंक्ति रोज़-रोज कहाँ जाती है ?

धारा में बह-बहकर आते हुए, टूटे रथ
जर्जर पताकाएँ किसकी है ?

हारी हुई सेनाएँ, जीती हुई सेनाएँ
नभ को कँपाते हुए, युद्ध-घोष, क्रन्दन-स्वर,
भागे हुए सैनिकों से सुनी हुई
अकल्पनीय अमानुषिक घटनाएँ युद्ध की
क्या ये सब सार्थक हैं ?
चारों दिशाओं से
उत्तर को उड़-उडकर जाते हुए
गृद्धों को क्या तुम बुलाते हो
(जैसे बुलाते थे भटकी हुई गायों को)

जितनी समझ तुमसे अब तक पायी है कनु,
उतनी बटोरकर भी
कितना कुछ है जिसका
कोई भी अर्थ मुझे समझ नही आता है

अर्जुन की तरह कभी
मुझे भी समझा दो
सार्थकता है क्या बन्धु ?
मान लो कि मेरी तन्मयता के गहरे क्षण
रँगे हुए, अर्थहीन, आकर्षक शब्द थे--
तो सार्थक फिर क्या है कनु ?

शब्द : अर्थहीन

पर इस सार्थकता को तुम मुझे
कैसे समझाओगे कनु ?

शब्द, शब्द, शब्द···
मेरे लिए सब अर्थहीन है
यदि वे मेरे पास बैठकर
मेरे रूखे कुन्तलो मे उँगलियाँ उलझाये हुए
तुम्हारे काँपते अधरो मे नही निकलते

शब्द, शब्द, शब्द···
कर्म, स्वधर्म, निर्णय, दायित्व···
मैंने भी गली-गली सुने है ये शब्द
अर्जुन ने इनमे चाहे कुछ भी पाया हो
मैं इन्हे सुनकर कुछ भी नही पाती प्रिय,
सिर्फ राह में ठिठककर
तुम्हारे उन अधरों की कल्पना करती हूँ
जिनमे तुमने ये शब्द पहली बार कहे होगे

——तुम्हारा साँवरा लहराता हुआ जिस्म
तुम्हारी किंचित् मुड़ी हुई शख्र-ग्रीवा
तुम्हारी उठी हुई चन्दन-बाँहे
तुम्हारी अपने में डूबी हुई
अधखुली दृष्टि
धीरे-धीरे हिलते हुए

तुम्हारे जादू-भरे होंठ !

मैं कल्पना करती हूँ कि
अर्जुन की जगह मैं हूँ
और मेरे मन में मोह उत्पन्न हो गया है
और मैं नहीं जानती कि युद्ध कौन-सा है
और मैं किसके पक्ष में हूँ
और समस्या क्या है
और लड़ाई किस बात की है
लेकिन मेरे मन में मोह उत्पन्न हो गया है
क्योंकि तुम्हारे द्वारा समझाया जाना
मुझे बहुत अच्छा लगता है
और सेनाएँ स्तब्ध खड़ी हैं
और इतिहास स्थगित हो गया है
और तुम मुझे समझा रहे हो···

कर्म, स्वधर्म, निर्णय, दायित्व,
शब्द, शब्द, शब्द···
मेरे लिए नितान्त अर्थहीन हैं
मैं इन सबके परे अपलक तुम्हें देख रही हूँ
हर शब्द को अँजुरी बनाकर
बूँद-बूँद तुम्हें पी रही हूँ
और तुम्हारा तेज
मेरे जिस्म के एक-एक मूर्च्छित संवेदन को
धधका रहा है

और तुम्हारे जादू-भरे होंठों से
रजनीगन्धा के फूलों की तरह टप्-टप् शब्द झर रहे हैं
एक के बाद एक के बाद एक···

कर्म, स्वधर्म, निर्णय, दायित्व···
मुझ तक आते-आते सब बदल गये हैं
मुझे सुन पड़ता है केवल
राधन्, राधन्, राधन्···

शब्द, शब्द, शब्द,
तुम्हारे शब्द अगणित हैं कनु—संख्यातीत
पर उनका अर्थ मात्र एक है—
मैं,
मैं,
केवल मैं !

फिर उन शब्दों से
मुझी को
इतिहास कैसे समझाओगे कनु ?

समुद्र-स्वप्न

जिसकी शेषशय्या पर
तुम्हारे साथ युग-युगों तक क्रीड़ा की है
आज उस समुद्र को मैंने स्वप्न में देखा कनु !

लहरों के नीले अवगुण्ठन में
जहां सिन्दूरी गुलाब-जैसा सूरज खिलता था
वहां सैकड़ों निष्फल सीपियां छटपटा रही हैं
और तुम मौन हो
मैंने देखा कि अगणित विक्षुब्ध विक्रान्त लहरें
फेन का शिरस्त्राण पहने
सिवार का कवच धारण किये
निर्जीव मछलियों के धनुष लिये
युद्धमुद्रा में आतुर हैं
और तुम कभी मध्यस्थ हो
कभी तटस्थ
कभी युद्धरत

और मैंने देखा कि अन्त में तुम
थककर
इन सबसे खिन्न, उदासीन, विस्मित और
कुछ-कुछ आहत
मेरे कन्धों से टिककर बैठ गये हो
और तुम्हारी अनमनी भटकती उंगलियाँ

तट की गीली बालू पर
कभी कुछ, कभी कुछ लिख देती है
किसी उपलब्धि को व्यक्त करने के अभिप्राय
से नही;
मात्र उँगलियों को ठण्डे जल मे डुबोने का
क्षणिक सुख लेने के लिए !

आज उस समुद्र को मैने स्वप्न में देखा कनु !
विष-भरे फेन, निर्जीव सूर्य, निष्फल सीपियाँ, निर्जीव मछलियाँ...
—लहरें अनियन्त्रित होती जा रही है
और तुम तट पर बाँह उठा-उठाकर कुछ कह रहे हो !
पर तुम्हारी कोई नही सुनता, कोई नही सुनता !

अन्त में तुम हारकर, लौटकर, थककर
मेरे वक्ष के गहराव में
अपना चौडा माथा रखकर
गहरी नीद मे सो गये हो··
और मेरे वक्ष का गहराव
समुद्र में बहता हुआ, बडा-सा ताज़ा क्वारा, मुलायम गुलाबी
वटपत्र बन गया है
जिस पर तुम छोटे-से छौने की भाति
लहरो के पालने में महाप्रलय के बाद सो रहे हो !
नीद से तुम्हारे होठ धीरे-धीरे हिलते है
"स्वधर्म" !···आखिर मेरे लिए स्वधर्म क्या है ?
और लहरे थपकी देकर तुम्हे सुलाती है
"सो जाओ योगिराज···सो जाओ···निद्रा
समाधि है !"
नीद मे तुम्हारे होठ धीरे-धीरे हिलते है
"न्याय-अन्याय, सदसद्, विवेक-अविवेक--
कसोटी क्या है ? आखिर कसौटी क्या है ?"

और लहरे थपकी देकर तुम्हे सुला देती है
"सो जाओ योगेश्वर···जागरण स्वप्न है,
छलना है, मिथ्या है !"

तुम्हारे माथे पर पसीना झलक आया है
और होठ कॉप रहे है
और तुम चौककर जाग जाते हो
और तुम्हे कोई भी कसौटो नही मिलती
और जूए के पासे की तरह तुम निर्णय को फेक देते हो
जो मेरे पंताने है वह स्वधर्म
जो मेरे सिरहाने है वह अधर्म···
और यह सुनते ही लहरे
घायल सॉपों-सी लहर लेने लगती है
और प्रलय फिर शुरू हो जाती है

और तुम फिर उदास होकर किनारे बैठ जाते हो
और विषादपूर्ण दृष्टि से शून्य मे देखते हुए
कहते हो- "यदि कही उस दिन मेरे पैताने
दुर्योधन होता तो··················आह
इस विराट् समुद्र के किनारे ओ अर्जुन, मै भी
अबोध बालक हूं !"

आज मैंने समुद्र का स्वप्न मे देखा कनु !

तट पर जल-देवदारुओं मे
बार-बार कण्ठ खोलती हुई हवा
के गूंगे झकोरे,
बालू पर अपने पगचिह्न बनाने के करुण प्रयास मे

बसाखियों पर चलता हुआ इतिहास,
···लहरों में तुम्हारे श्लोकों से अभिमन्त्रित गाण्डीव
गले हुए सिवार-सा उतरा आया है···
        और अब तुम तटस्थ हो और उदास

समुद्र के किनारे
नारियल के कुंज हैं
और तुम एक बूढ़े पीपल के नीचे चुपचाप बैठे हो
        मौन, परिशमित, विरक्त
        और पहली बार जैसे तुम्हारी अक्षय तरुणाई पर
        थकान छा रही है !
और चारों ओर
एक खिन्न दृष्टि से देखकर
एक गहरी साँस लेकर
तुमने असफल इतिहास को
जीर्णवसन की भाँति त्याग दिया है

        और इस क्षण
        केवल अपने डूबे हुए
        दर्द से पके हुए
        तुम्हें बहुत दिन बाद मेरी याद आयी है !

काँपती हुई दीप की लौ जैसे
पीपल के पत्ते
एक-एक कर बुझ गये
        उतरता हुआ अँधियारा···
        समुद्र का लहर

अब तुम्हारी फैली हुई साँवरी शिथिल बाँहें हैं
भटकती सीपियाँ तम्हारे काँपते अधर

और अब इस क्षण तुम
केवल एक भरी हुई
पकी हुई
गहरी पुकार हो…

सब त्यागकर
मेरे लिए भटकती हुई…

समापन

क्या तुमने उस वेला मुझे बुलाया था कनु ?
लो मैं सब छोड़-छाड़कर आ गयी !

इसलिए तब
मै तुममें बूँद की तरह विलान नही हुई थी,
इसीलिए मैंने अस्वीकार कर दिया
तुम्हारे गोलोक का
कालावधिहीन रास,
क्योंकि मुझे फिर आना था !

तुमने मुझे पुकारा था न
मै आ गयी हूँ कनु !

और जन्मान्तरों की पगडण्डी के
कठिनतम मोड़ पर खडी होकर
तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही हूँ
कि, इस बार इतिहास बनाते समय
तुम अकेले न छूट जाओ !

सुनो मेरे प्यार !
प्रगाढ़ के लिक्षणों मे अपनी अन्तरंग
सखी को तुमने बाँहों में गूँथा
पर उसे इतिहास में गूँथने से हिचक क्यों गये प्रभु ?

बिना मेरे कोई भी अर्थ कैसे निकल पाता
तुम्हारे इतिहास का
शब्द, शब्द, शब्द...
राधा के बिना
सब
रक्त के प्यासे
अर्थहीन शब्द !

सुनो मेरे प्यार !
तुम्हें मेरी जरूरत थी न, लो मैं सब छोड़कर आ गयी हूँ
ताकि कोई यह न कहे
कि तुम्हारी अन्तरंग केलिसखी
केवल तुम्हारे साँवरे तन के नशीले संगीत की
लय बनकर रह गयी...

मैं आ गयी हूँ प्रिय !
मेरी वेणी में अग्निपुष्प गूँथनेवाली
तुम्हारी उँगलियाँ
अब इतिहास में अर्थ क्यों नहीं गूँथतीं ?

तुमने मुझे पुकारा था न !

मैं पगडण्डी के कठिनतम मोड़ पर
तुम्हारी प्रतीक्षा में
अडिग खड़ी हूँ कनु मेरे !

• • •